सप्तम अध्याय

1- वेद के आधार पर दशविध प्राणों का निरूपण ।

2- प्राणों का जीवन प्रदायक रूप ।

3- अपान द्वारा निराकरण- उसके भेद ।

सप्तम अध्याय

वेद के आधार पर दशविध प्राणों का निरूपण

संस्कृत वैदिक वाङ्मय में हमारे मनीषियों ने शरीर में प्राण के रूप में ब्रह्माण्डीय शक्ति तथा इसके द्वारा सम्पन्न होने वाले दस कार्यों का अनुसंधान किया है । इन इस कार्यों के आधार पर इसके दस भेद किये गए हैं । विद्वानों की मान्यता है कि दस प्रकार के प्राणों के कारण ही शरीर के समस्त भारीरिक कार्य सम्पन्न होते हैं, तथा इन कार्यों का समन्वय हो सकता है । प्राण ऐसे वाहन हैं, जिनके द्वारा ब्रह्माण्डीय उर्जा (कास्मिक एनर्जी) शरीर के विभिन्न अंगों को प्राप्त होती है । इस प्रकार समग्र जगत् में जो उर्जा शक्ति व्याप्त है, उसका नाम "प्राण" है । जगत् में जितनी भी शक्तियाँ व्याप्त हैं उनकी समष्टि को प्राण कहते हैं । यह प्राण ही गति के रूप में मनुष्यों अथवा अन्य प्राणियों में स्नायविक गति के रूप में प्रकाशित होता है । यह सम्पूर्ण संसार इस प्राण एवं आकाश की समष्टि है । व्यापक रूप में प्राण ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है ।[1]

मनुष्य के शरीर में वृत्ति के कार्य भेद से इस प्राण के दस-दस भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया है- प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय- ये इस प्रकार के प्राण वायु हैं ।

प्राण-

मनुष्य का महत्वपूर्ण अंग प्राण है । श्वास-प्रश्वास को अन्दर बाहर ले जाना, मुख और नासिका द्वारा गति करना, अन्न-जल को पचाकर पृथक् करना अन्न को पुरीष, जल को पसीना तथा रसादि को वीर्य बनाना प्राण वायु का कार्य है । प्राण आत्मा की शक्ति है । आत्मप्रकाश के साथ ही इसका विकरण

1-योगसाधना-स्वामीराम, पृ0 49

होता है। शरीर को यही प्राणशक्ति धारण करती है। अतः इसे पुरन्धि भी कहा जा सकता है। शरीर पुर है इसका आधार प्राण है। प्राण शक्ति है तो शरीर भी टिका है। प्राण शक्ति प्राणी का सर्वस्व है।[1]

अपान-

अपान वायु का कार्य मल आदि का विसर्जन करना है। यह नीचे की ओर गतिशील तथा नाभि से पादतल पर्यन्त विद्यमान है। निचली इन्द्रियों का कार्य इस पर आश्रित है।

समान-

समान नामक प्राणशक्ति शरीर के मध्यभाग अर्थात् नाभि से हृदय तक स्थित है। इसका कार्य पचे हुए रसादि को समस्त अंगों एवं नाड़ियों में अनुपातपूर्वक विभाजित करना है। समान नामक प्राणशक्ति शरीर में जठराग्नि को आवृत करके स्थित है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में अन्नरस का समनयन करने के कारण इसकी समान संज्ञा है।

व्यान-

इसका मुख्य स्थान उपस्थमूल से ऊपर है। इस शरीर में जो हृदय प्रदेश है, जो जीवात्मा का निवास स्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ है, उनमें से प्रत्येक नाड़ी की बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियाँ हैं। इस प्रकार कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। इन सबमें व्यान वायु विचरण करता है। इस प्रकार व्यान समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों में गतिपूर्वक शरीर के सब भागों में रुधिर संचार करता है।

उदान-

कण्ठ, मुख नासिकादि से प्रारंभ होकर शिरपर्यन्त प्रवाहित होने वाली जीवनीवृत्ति विशेष उदान कहलाती है। रस आदि के उर्ध्वमुख उन्नयन करने से ही इसकी उदान संज्ञा है। व्यष्टि एवं समष्टि प्राण का संयोजक यही उदान वायु है।

1-वेदार्थ चन्द्रिका-पृ0 248

शरीर को ऊपर की ओर उठाये रखना भी इसका मुख्य कार्य है । उदान शरीरान्तर्वर्ती धातुगत बोध के अधिष्ठान स्वरूप स्नायु को धारण करने वाली प्राणशक्ति है । यह उदान ऊर्ध्वगति शक्तिशक्ति है अतः सुषुम्नागत उदान को संयम द्वारा स्ववश कर लेने पर देवयान, या अर्चिरादि मार्ग । पितृयान और देवयान द्वारा इच्छानुसार ब्रह्मलोक आदि लोकों में ऊर्ध्वगति होती है म इससे इसका में पुनरावर्तन नहीं होता । पुनरावर्तन शून्यगति ही उत्क्रान्ति कहलाती है । शेष पाँच वायुओं में, नागवायु उद्गार अर्थात् छींकने आदि कूर्मवायु निमीलन संकोचन-कार्य, कृकल वायु, क्षुधा, तृषा आदि धनंजय पोषण इत्यादि तथा, देवदत्त जृम्भण निद्रा आदि का कार्य करता है, किन्तु इन देशो में पूर्वोक्त पंचप्राण ही मुख्य हैं । नाग, कूर्म, कृकल और धनंजय प्राण, अपान, व्यान, समानऔर उदान के ही अन्तर्गत हैं-

निश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्तिता ।
अपान वायोः कर्मैतत् विण्मूत्रादि विसर्जनम् ।।
हानोपादानचेष्टादि व्यान कर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्मतत्प्रोक्त देहस्योन्नयादि यत् ।।
पोषादितमानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम् ।
उद्गारादि गुणो य यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ।।
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुते वे कृकलस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्री कर्मेति कीर्तितम् ।।
धनंजय शोकादिसर्वकर्मप्रकीर्तितम ।।[1]

1-योगि याज्ञवल्क्य 4/66, 69

प्राण का जीवन प्रदायक रूप, अपना द्वारा निराकरण उसके भेद

समग्र जगत् में जो ऊर्जा शक्ति व्याप्त है, उसी का नाम "प्राण" है। जगत् में जितनी शक्तियाँ व्याप्त हैं उनकी समष्टि को प्राण कहते हैं। व्यापक रूप में प्राण ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है। "प्राण" शब्द कभी कभी केवल श्वास का साधारण अर्थ बोध करता है, किन्तु इसका उचित अर्थ श्वास का आदान-प्रदान विसर्जन है। जिस आन्तरिक शक्ति द्वारा दृश्य जगत् में जीवात्मा में देह से संबंध होता है, उसे प्राण कहते हैं।[1]

प्राण संसार के समस्त जीवधारियों को धारण करते हैं। प्राणों के बिना उनका अस्तित्व ही संभव नहीं है। प्राण शब्द का यही रहस्य है कि जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहते हैं। देहधारी तभी तक अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राणों की सत्ता रहती है। प्राणों के अभाव में वे ऐ क्षण भी ठहर नहीं सकते हैं। किसी भी देहधारी का शरीर एवं इन्द्रियाँ तभी तक क्रियान्वित रहती है जब तक कि उनमें प्राणों का संचार है। प्राण शक्ति के निकल जाने पर इन्द्रिय शक्ति शून्य होकर निश्चेष्ट हो जाती है और शरीर काष्ठवत् संज्ञा शून्य हो जाता है, उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है।

इस प्रकारहम देखते हैं कि प्राण एक सर्वव्यापी क्रियात्मक ऊर्जा है जो कि भौतिक जगत् के उन समस्त रूपों का सर्जक है। स्थूल भौतिक रूप उसकी अर्थात् प्राण की बाह्य क्रिया है। और प्राण तत्व अविनाशी तथा शाश्वत है। यदि विश्व का समग्र रूप नष्ट भ्रष्ट हो जाये तो भी प्राण का अस्तित्व रहेगा। जो विनष्ट विश्व के स्थान पर एक नवीन विश्व को उत्पन्न करने में समर्थ होगा।

1-वेदार्थ चन्द्रिका-डा० मुशीराम शर्मा

इससे, यह सिद्ध होता है कि प्राण वह शक्ति पुंज है जो कि विश्व के रूपों का निर्माण, संरक्षण और विनाश करता है ।[1] प्राण ही पृथ्वी के रूप में अभिव्यक्त होता है और वही पृथ्वी पर उगने वाले वनस्पति और पशुओं में प्रकाशित होता है, जो अपनी जीवन उस वनस्पति की या एक दूसरे का प्राणशक्ति का भक्षण कर बनाये रखते हैं। जब प्राणशक्ति को हम व्यापक परिधि में लेते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि समस्त जीवन एक विश्वव्यापी प्राण है और वही प्राण तत्व सर्वत्र सर्जनकारी है ।

प्राणतत्व की इस प्रतिष्ठा के मूल्यांकन में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह विश्वव्यापी एक अद्भुत शक्ति है जो केवल वनस्पति और पशु में ही नहीं अपितु धातुखण्ड प्रस्तर आदि में भी सूक्ष्मतक रूप में अवस्थित है । प्राण की स्थित एवं क्रियाशैली पशुवत् वनस्पति तगत् एवं धातुगत् में भिन्न भिन्न रूपोंमें में कार्य करती है । परन्तु जब हम सामान्य रूप से प्राण पर विचार करते हैं तो हमारा अभिप्राय पशुप्राण से रहता है जो चलता है, श्वास लेता है, खाता है, अनुभव करता है, कामना करता हैऔर यदिहम वनस्पति के प्राण की बात कहते हैं तो वह कोई वास्तविकता होने की अपेक्षा प्राय: रूपक जैसा रहा है, क्योंकि वनस्पति के प्राण को जब एक व्यापार की अपेक्षा एक शुद्ध जड़ प्रक्रिया के ही रूप में देखा जाता था, विशेषता प्राण को श्वास की प्रक्रिया के साथ संबद्ध रखा जाता है । प्रत्येक भी भाषा में कहा जाता है कि "श्वास ही प्राण है" यह उक्ति सत्य है, यदि हम विश्व प्राण के श्वास के अर्थ को अपनी धारणा को बदल दें । किन्तु यह स्पष्ट है कि स्फूर्ति गति या चलना श्वास लेना, खाना ये प्राण की प्रक्रियायें मात्र हैं, स्वयं प्राण नहीं हैं । ये तो उस सतत उद्दीपन देती रहने वाली ऊर्जा को उत्पन्न या उन्मुक्त करने के साधन हैं जो हमारी प्राण शक्ति है और ये विघटन और पुनर्नवीकरण की उस प्रक्रिया के लिए साधन हैं, जिसके द्वारा वह शक्ति

1.-श्री अरविन्द साहित्य, खण्ड 7 शीर्षक-दिव्य जीवन

हमारी वस्तुमय सत्ताको अवलम्बन देती है, किन्तु हमारी प्राण सत्ता की ये प्रतिक्रियायें हमारी श्वासक्रिया और हमारे पोषण साधनों से भिन्न अन्य उपायों से भी चालू रखी जा सकती है । यह एक प्रमाणित सत्यहै कि श्वास के हृदय स्पन्दन को और मानव प्राण के लिए पहले अनिवार्य मानी जाने वाली अन्य अवस्थाओं को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिये जाने पर भी मानव प्राण शरीर में टिका रह सकता है । और ऐसे व्यापारों के अवसर नवीन प्रमाण सामने आये हैं जिनसे यह प्रस्थापित होता है कि वनस्पति में जिसके बारे में हम अब भी यह अस्वीकार कर सकते हैं कि उसको कोई संवेदन प्रतिक्रिया होती है तो एक दैहिक प्राण तो रहता है जो हमारे दैहिक प्राण से अभिन्न है, यहां तक कि हमारे अपने दैहिक प्राण की भांति मूलतः संगठित भी है । यद्यपि उसकी प्रत्यक्ष गठन भिन्न धारणाओं को पूरी तरह निकालना होगा, समाप्त करना होगा और लक्षणों तथा बाह्य रूपों से आगे बढ़कर विषय के मूल में पहुँचना होगा ।

भारत के एक प्रख्यात वैज्ञानिक का अभिमत है कि उद्दीपन के तत्व के प्रति अनुक्रिया प्राण के अस्तित्व का निश्चान्ति चिह्न है । इस वैज्ञानिक के एकत्रित तथ्यों में विशेषतः वनस्पति जीवन के व्यापार पर ही प्रकाश डाला है और वनस्पति की भाँति धातु के अन्दर भी प्राण के अस्तित्व का प्रमाण वही है, उद्दीपक के प्रति अनुक्रिया है, जीवन की भावात्मक अवस्था है और अभावात्मक भी जिसे हम मृत्यु कहते हैं । निःसंदेह धातु और वनस्पति में यह तत्व समान प्रचुरता से नहीं है, न वह इस प्रकार है कि उनमें प्राण का तत्वतः एक जैसा संगठन दिखाई दे, किन्तु यह संभव है कि यदि सही प्रकार के और पर्याप्त सूक्ष्मता के यंत्रों का आ आविष्कार किया जा सके तो धातु और वनस्पति जीवन के बीच समरूपता की अन्य बातों का भी पता लग सकेगा और यदि यह भी प्रमाणित हो जाये कि ऐसा नहीं है तो इसका अर्थ यही हो सकता है उसके सदृश या कोई भी प्राण संगठन अनुपस्थित है किन्तु प्राण का प्रारंभ फिर भी विद्यमान रह सकता है । परन्तु धातु में यदि प्राण का अस्तित्व है उसके लक्षण चाहे कितने भी प्रारंभिक अवस्था वाले क्यों न हों तब भी यह मानना होगा कि पृथ्वी में या धातु के सजातीय

अन्य जड़ पदार्थों में भी प्राण शायद संवृत रूप में या आरंभिक और तात्त्विक रूप में विद्यमान है । यदि हम अपने अनुसंधान के हमारे वर्तमान यन्त्र जहाँ विफल हो जाते हैं वहाँ रुकने के लिए विवश न हों तो अपने प्रकृति केअनुभव के आधार पर निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इस प्रकार अनुसंधान में लगे रहने से अन्त में यह प्रमाणित होगा कि न मिट्टी और उसकी बनी धातु के बीच न धातु और वनस्पति के बीच कोई विच्छेद हुआ है, वे विभाजन न कोई कड़ी रेखा ही खींची गई है और इस समन्वय का अनुसरण करने से यह प्रमाणित होगा कि न कोई विच्छेद या कड़ी रेखा वाला विभाजन मिट्टी या धातु के उपादान तत्त्वों और परमाणुओं और उन तत्त्वों और उपादानो से बनी मिट्टी या धातु के बीच ही हुआ है । इस क्रमबद्ध सत्ता का हर पल अगले को तैयार करता है, अपने आप में उसे धारण किये रहता हैजो उसके बाद आने वाले में प्रकट होता है । प्राण सर्वत्र है चाहे गुप्त हो या व्यक्त, संगठित हो या तत्त्वभूत संवृत हो या विकृत । किन्तु है विश्वगत, सर्वव्यापी, अविनाशी, केवल उसके रूप और संगठन भिन्न भिन्न होते हैं ।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि उद्दीपन के प्रति शारीरिक अनुक्रिया काहोना प्राण का एक बाह्य लक्षण ही है जैसे हमारे अन्दर श्वास लेना और चलना फिरना है, परीक्षण कर्ता एक असाधारण उद्दीपन प्रयोग करता है और सुस्पष्ट अनुक्रियायें होती है जिन्हें हम परीक्षण के विषय के अन्दर प्राण तत्व की विद्यमानता के संकेतो के रूपो में तुरन्त जान सकते हैं किन्तु अपने सारे जीवन के दौरान में वनस्पति अपने परिपार्श्व से आने वाले उद्दीपन के सतत अनुक्रिया करती रहती है अर्थात् उसमें एक शक्ति के प्रति अनुक्रिया करने में समर्थ रहती है । इसलिए कहा जाता है कि वनस्पति में अन्य सभी गठन में प्राणिक शक्ति की विद्यमानता का इन परीक्षणों से अप्रमाणित हो गया है किन्तु जब कहते हैं कि वनस्पति पर एक उद्दीपन प्रयुक्त किया है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि एक अर्जित शक्ति क्रियात्मक गति वाली एक शक्ति उस पदार्थ को और भेजी गई है और जब यह कहा जाता है कि अनुक्रिया हुई है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि उस आघात का उत्तर एक अर्जित शक्ति दे रही है जो क्रियात्मक गति और संवेदनात्मक स्पन्दन में समर्थ

है । इस तथ्य से यह प्रतीत होता है कि जैसे विश्व में एक सतत क्रियात्मक ऊर्जा गतिमान् है जो न्यूनाधिक सूक्ष्म या स्थूल विभिन्न जड़रूप धारण करती है वैसे ही प्रत्येक जड़ शरीर या पदार्थ में वनस्पति या पशु या धातु में वहीं सतत क्रियात्मक शक्ति संचित और क्रियाशील रहती है, इन दोनों का एक विशेष आदान-प्रदान ही वह व्यापार प्रस्तुत करता है जिसे हम प्राण के भाव के साथ संयुक्त करते हैं । इसी क्रिया को हम प्राण ऊर्जा की क्रिया माना जाता है जो अपने आप को इस भाँति अर्जित करती है वह 'प्राणशक्ति होती है । मानस ऊर्जा, प्राण ऊर्जा, जड़ ऊर्जा ये एक ही जगत् शक्तिकी विभिन्न गतिं धारायें हैं ।

जब कोई रूपहमें मृत प्रतीत होता है तब भी यहशक्ति उसमें शक्यता के रूप में उपस्थित रहती है, भले ही उसकी प्राणवत्ता की परिचित क्रियायें स्थगित हों और सदा के लिए समाप्त होने जा रही है जो मृत हो गया है कुछ सीमाओं के अन्दर उसे पुनर्जीवित किया जा सकता है, अभ्यस्त क्रियाओं को, अनुक्रिया को सक्रिय ऊर्जा के संचरण को पुनः वापस लाया जा सकता है और इससे यह प्रमाणित होता है कि हम जिसे प्राण कहते हैं वह शरीर में तब भी विद्यमान था, किन्तु अन्तर्लुप्त अर्थात वह अपने सामान्य अभ्यासों में, सामान्य शारीरिक क्रिया के अभ्यासों में स्नायविक क्रीड़ा और अनुक्रिया के अभ्यासों में, सचेतन मानसिक अनुक्रिया के जो तत्व अभ्यासो में सक्रिय नहीं था । यह अनुमान करना कठिन है कि प्राण नाम की कोई पृथक् सत्ता है जो शरीर में सम्पूर्णतः बाहर चली जाती है और उसके अन्दर तब वापस चली आती है जब वह अनुभव करती है कि उस रूप को कोई उद्दीपन कर रहा है । प्रश्न है कैसे ? जबकि उसे शरीर से संबद्ध करने वाला कुछ भी नहीं है ? कुछ दशाओं में जैसे मिरगी में हम देखते हैं कि प्राण की बाह्य शारीरक और अन्य क्रियाएँ स्थगित हो जाती हैं । किन्तु वहाँ इन्द्रिय मानसिकता आत्मज्ञान और सचेतन रहती है यद्यपि वह स्वाभाविक शारीरिक अनुक्रियायें प्रेषित करने में असमर्थ होती हैं । निश्चय ही तथ्य यह नहीं होता है कि मनुष्य का शरीर मृत हो जाता है । पर मन जीवित रहता है क्योंकि प्राण शरीर

के बाहर जाता है जबकि मन फिर भी उनमें निवास करता रहता है केवल इतना होता है कि सामान्य दैहिक क्रिया स्थगित हो जाती है जबकि मन सक्रिय बना रहता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राण समस्त प्राणियों की आयु है और वही जीवन का विश्वतत्व है । जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है-

"प्राणो हि भूतानामायुतस्मात्सर्वायुषमुच्यते ।"

प्राणवायु शुद्ध निर्मल स्थिति में रहती हुई देहधारी को अवस्थित करती है जबकि अपान वायु के इससे भिन्न व्यापार होते हैं । अपान वायु दूषित विकारों को अपनी विशिष्ट क्रिया के द्वारा निराकृत करती है । इस प्रकार इस अपान वायु का कार्य प्रकारान्तर से प्राण वायु की शुद्धि एवं परिष्कार के लिए ही होते हैं जो कि जीवन के विकास के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है यदि अपान वायु के द्वारा अनेक प्रकार के दोषों को निराकृत न किया जाये तो वह प्राणियों के शरीर को दूषित कर विकृत कर देता है ।

इस प्रकार प्राण के दस कार्यों में पाँच अतीव महत्वपूर्ण हैं । इन पाँच में भी दो रूप सर्वश्रेष्ठ हैं जिन्हे प्राण और अपान कहा जाता है । समस्त प्रजा का प्राण सूर्य है । जब यह प्राणपुंज अपनी सहस्त्रधा किरणों के साथ उदय होता है तो सप्राण हो उठता है । निराशा के स्थान पर आशा और तम के स्थान पर प्रकाश का संचार होने लगता है । दिन और रात्रि में 21,600 बार श्वास का प्रवेश और निष्क्रमणहोता है जो सांस बाहर से अन्दर जाती है वह बाहर के प्राण सिन्धु में डुबकी लगाकर आती है अतः अन्दर पहुँचकर शक्ति का संचार करती है और जो सांस अन्दर से बाहर जाती है वह हृदय सिन्धु के उत्पन्न मल को शरीर से बाहर फेंकती है । पहली सांस को प्राण और दूसरी को अपान कहते हैं । जीवन प्रदात्री एवं मलापहारिणी श्वास प्रश्वास को इसीलिए दो अश्विनीकुमार देव वैद्यों की संज्ञा दी गयी है । अथर्ववेद में भी कहा गया है-

द्वौ इमौ वातौ वातः आसिन्धोः आ परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः ॥
आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

ये दो वायु चल रही हैं- एक बाहर के सिन्धु तक और दूसरी अन्दर के सिन्धु बाहर के सिन्धु तक । अन्दर का सिन्धु हृदय है, और बाहर का सिन्धु अन्तरिक्ष । एक दक्ष अर्थात बल लाती है तो दूसरी दोष दूर करती है । एक से प्राणन् अर्थात् जीवन आता है तो दूसरे से अपनयन, अर्थात् दोषापहरण होता है । दोनों ही रूपों में प्राण औषधि का कार्य करता है । वेद इसे देवताओं का दूत भी कहता है । प्राण का संयम दिव्यता का आह्वान है । जैसे अग्नि की ज्वालाओं में पड़कर धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं जैसे ही इन्द्रियों के दोष प्राण के निग्रह से नष्ट हो जाते हैं । प्राण की तपस्या प्राण को क्षीभूत करने में है । जिस प्राण के वशमें इस में सारा संसार है उसे वश में कर लेना मानों विश्वविजयी होने की घोषणा करना है । इस प्रकार प्राण और अपान दोनों का ही महत्वपूर्ण कार्य है ।